राजनीतिक दर्शन में न्याय की अवधारणा एवं न्याय के विभिन्न पक्ष

डॉ0 प्रभा गौतम,

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, विद्यान्त हिन्दू पी0जी0 कॉलेज, लखनऊ, उ0प्र0

शोध सारांश

यह सर्वमान्य विचार है कि समाज एवं राज्य की स्थापना न्याय की प्रस्थापना की आवश्यकता के कारण हुई है। न्याय के प्रश्न पर पाश्चात्य व पूर्वात्य चिन्तकों द्वारा विचार मंथन अनवरत गति से गतिमय रहा है। पूर्व में यह नैतिक चिन्तन का विषय था, तत्पश्चात् राजनीतिक दर्शन में अस्तित्व में आया। पाश्चात्य विचारक प्लेटो द्वारा इसका सम्बन्ध कार्य के विशेषीकरण के सिद्धान्त से सम्बद्ध करके मानवीय आत्मा से इसका सम्बन्ध स्थापित किया, वही उनके शिष्य अरस्तू राजनीतिक पदों के वितरण एवं नागरिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करने की दृष्टि से इसे देखते हैं। एपीक्यूरियन विचारकों ने न्याय को प्रथा एवं परम्परा के अनुसार समाज को नियन्त्रित करने के साधन के रूप में देखा। मध्य युग में गुण और तत्त्व के रूप में न्याय को व्याख्यापित करके, आध्यात्मिक विषय बनाकर चर्च के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया गया। भारतीय राजनीतिक चिन्तन में न्याय के कानूनी पक्ष पर बल दिया गया है। साम्यवादी चिन्तकों के अनुसार शोषण के सभी यन्त्रों का अन्त कर वर्गविहीन समाज की स्थापना करना ही न्याय है। वर्तमान में न्याय के कानूनी और नैतिक पक्ष की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। राजनीतिक न्याय लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली का आधार है, वहीं सामाजिक न्याय व्यक्ति की गरिमा प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है। आर्थिक न्याय से तात्पर्य शक्ति व स्रोतों के न्यायपूर्ण वितरण से है जिससे कि व्यक्ति गरिमामय जीवनयापन कर सके। न्याय की अवधारणा की सम्पूर्ण यात्रा में इसकी विवेचना, परिभाषायें परिवर्तित हुई हैं, लेकिन इसका उद्देश्य 'दुर्बलों के हितों की रक्षा' स्थायी है।

मुख्य शब्द– *न्याय, चिन्तन, अधिकार, राज्य, स्वतन्त्रता*

सभ्यता के प्रारम्भिक चरण में व्यक्ति जब एक आदिम प्राणी की तरह रहता था तो शक्तिशाली द्वारा दुर्बल को विनष्ट किये जाने का प्राकृतिक नियम पशुओं और मनुष्यों के मध्य समान रूप से प्रचलित था जिसे 'मत्स्य न्याय' की संज्ञा दी गई। समझौतावादी विचारक हॉब्स ने मानव की इस पकृति की कल्पना भी की है। न्याय की आवश्यकता ने मानव मात्र को एक सामाजिक पर्यावरण में रहने के लिए प्रेरित किया होगा, ऐसा राजनीतिक विचारकों का अभिमत है। पाशविक जीवन में भय के वातावरण, आवश्यकताओं और लम्बे समय तक एकान्तिकता की स्थिति में रह पाने में असमर्थ मनुष्य ने सामूहिक जीवनयापन की दिशा में प्रयास किया, जिसका आधार शक्तिशाली से दुर्बलों की रक्षा था। इस प्रकार न्याय का प्रारम्भिक विचार प्रस्फुटित हुआ।

शाब्दिक रूप से न्याय का अंग्रेजी पर्याय 'जस्टिस' लेटिन भाषा के श्रैन् से बना है। इसका मूल भाव श्रनेजपे तथा श्रनेजपबपं हैं, जिसका अर्थ है जोड़ना, बंधन अथवा बाँधना। प्रधानतः बाँधने की भावना (व्यक्ति को व्यक्ति से, समुदाय को समुदाय से और समाज को समाज से) इस मूल भावना में निहित है। वह मनुष्यों के मानवीय सम्बन्धों को संगठित व्यवस्था में बाँधने की भावना

है। न्याय का यह शाब्दिक परिचयांकन पूर्वोक्त मानवीय समाज के विकास का समर्थन करता प्रतीत होता है और सामाजिक नियमन के लिए मूल्यों का संचालन करता है (अनेस्ट वार्कर, प्रिंसिपल ऑफ सोशल पॉलिटिकल थ्योरी, ऑक्सफोर्ट 1952, पृ0 102)। सभ्य समाज ने जैसे–जैसे प्रगति की, न्याय की अपेक्षा आकांक्षा उतनी ही प्रबल होती गई, यहाँ तक कि प्रशासन के प्रारम्भिक और मूलभूत संरचना के चार स्तम्भों– राजस्व, शान्ति व्यवस्था की स्थापना, सुरक्षा और न्याय में न्याय सर्वसुलभ तत्व रहा है।

न्याय न केवल राजनीतिक वरन नैतिक चिन्तन का भी एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण आधार है। पाश्चात्य व पूर्वात्य दोनों ही राजनीतिक दर्शनों में न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। पाश्चात्य दर्शन में इसका प्रारम्भ प्लेटो से माना गया है। प्लेटो ने न्याय की व्याख्या वैधानिक रूप से न करके नैतिक स्वरूप में की है। उन्होंने न्याय का अन्तर्आत्मा से सम्बन्ध स्थापित किया है। प्लेटो के अनुसार न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है। उन्होंने न्याय को राज्य की प्राणवायु की संज्ञा दी है। प्लेटो के अनुसार न्याय प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्त्तव्य का पालन है, जो उसके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुरूप हैं।

अरस्तू ने न्याय के दो प्रकार बताये हैं– पूर्ण न्याय और विशेष न्याय, जिसकी स्थापना नागरिकों की योग्यता व उसके द्वारा किये गये राज्य के प्रति योगदान के अनुरूप उसे राजनीतिक पदों के वितरण व एक नागरिक के दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध को निर्धारित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखने के द्वारा की जा सकती है।

ग्रीक नगर राज्य की न्याय व्यवस्था में परिवर्तन उनके बाद एपीक्यूरियन विचारकों ने किया, उनके अनुसार न्याय प्रथा और परम्परा के अनुसार समाजों को नियन्त्रित करना था। मध्य युग में न्याय को गुण और तत्त्व के रूप में देखा गया है। इस युग में पादरियों ने न्याय को आध्यात्मिक विषय बनाकर चर्च के साथ जोड़ दिया और यह विचार व्यक्त किया कि चर्च से अलग होकर राज्य में न्याय सम्भव नहीं है। इस युग में आगस्टाइन न्याय को व्यक्ति द्वारा ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्त्तव्यपालन मानता है तो एक्वीनास के अनुसार न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने अधिकार देने की निश्चित और सनातन इच्छा है।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में राजा को न्याय का स्रोत माना गया है और अन्याय करने वाले को दण्ड देना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य बताया गया है। इस प्रकार संगठनात्मक रूप से राजा न्याय–व्यवस्था में शीर्ष पर था। भारत के प्राचीन राजनीतिक चिन्तकों, यथा–मनु, कौटिल्य, बृहस्पति, शुक्र, भारद्वाज ने राजव्यवस्था में न्याय को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। सभी ने न्याय के कानूनी पक्ष पर विशेष बल दिया है। मनु के अनुसार जिस सभा (न्यायालय) में सत्य, असत्य से पीड़ित होता है, उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।

यत्र धर्मो ह्यधर्मण सत्यं यत्रानृतेन च।

हन्यते प्रेणमाणानां हतास्तत्र सभासदः।।

–मनुस्मृति, अध्याय–8, श्लोक–14

कानून न्याय की स्थापना का साधन है, जो सत्ता का प्रतीक है। संत आगस्तीन ने इस विषय में है कि, ''यदि न्याय को अलग कर दिया जाय तो राज्य एक लुटेरे की सम्पत्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' न्याय के कानूनी पक्ष को दो भागों में विभाजित किया जाता है, प्रथम–न्यायपूर्ण कानून का निर्माण, द्वितीय कानून के अनुरूप न्याय। कानून न्यायपूर्ण है या नहीं, इसका निश्चय करना अतिदुष्कर कार्य है, क्योंकि कुछ विचारक सम्प्रभु के आदेश, कुछ विचारक सामाजिक नैतिकता, कुछ विचारक शासक की इच्छा को

शासितों पर आरोपित करने के साधन के रूप में कानून को देखते हैं। कानून के अनुसार न्याय के विचार का प्रारम्भ अरस्तू द्वारा किया गया, उन्होंने कानून की उपयोगिता को सामाजिक व्यवस्था को न्यायपूर्ण बनाने के रूप में देखा। 'विधि का शासन' विश्व को ब्रिटेन की देन है, जिसके प्रमुख आधार हैं– कानून के समक्ष सभी की समानता एवं सभी को कानून का समान संरक्षण।

साम्यवादियों के अनुसार शोषण के सभी यन्त्रों का अन्त कर वर्गविहीन समाज की स्थापना करना ही न्याय है। उन्होंने न्याय के आर्थिक पक्ष का समर्थन किया है, जिसमें व्यवस्था का संचालन कर्त्तव्य व अधिकार के सिद्धान्त से संचालित होगा। कर्त्तव्य को क्षमतानुसार और अधिकार को कार्यानुसार के स्वरूप में परिभाषित किया गया है।

परम्परागत चिन्तन और व्यवहारिक दृष्टिकोण से न्याय द्विपक्षीय रहा है– नैतिक और कानूनी। लेकिन पश्चिमी उदारवादी लोकतान्त्रिक विचार परम्परा, लोकतन्त्र के विस्तार, औद्योगिक क्रान्ति, साम्यवादी विचारधारा, औपनिवेशिक साम्राज्य के विरुद्ध चले आन्दोलन आदि के फलस्वरूप न्याय की अवधारणा ने भी व्यापकता प्राप्त कर ली है। वर्तमान में न्याय के कानूनी और नैतिक पक्ष की अपेक्षा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक पक्ष अधिक महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली का आधार राजनीतिक न्याय है जो वर्तमान में सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली के रूप में विश्व में स्वीकार्य है जिसमें राज्य की आधारशिला ही राजनीतिक न्याय को माना जाता है जिसकी प्रस्थापना राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य है। राजनीतिक न्याय का सम्बन्ध शासक और शासितों के परस्पर सम्बन्धों से भी है। राजनीतिक न्याय के क्षेत्र में रॉल्स ने (जीमवतल वि श्रनेजपबम 1971) में निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में सभी की सहभागिता को अत्यधिक महत्त्व दिया है। किसी भी शासन प्रणाली की निर्णय निर्माण प्रक्रिया राजनीतिक न्याय की उपस्थिति को सुनिश्चित करती है। निर्णय निर्माण प्रक्रिया संविधान द्वारा व्याख्यापित होती है लेकिन राजनीतिक शक्ति कुछ हाथों में केन्द्रीकृत नहीं होनी चाहिए। नीति निर्माण सम्पूर्ण समाज के हितसंवर्धन को दृष्टिगत रखते हुए होने चाहिए। सरकार की शक्ति की वैधता के पीछे जनमत की शक्ति होनी चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकारों की घोषणा–पत्र के 20वें अनुच्छेद में प्रत्येक व्यक्ति की अपने देश की शासन व्यवस्था में सहभागिता के अधिकार को स्वीकार किया गया है। फ्रांस की क्रान्ति की प्रेरणा स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व का विचार राजनीतिक न्याय का आधार रहा है, जिसका आशय है कि राजनीतिक सहभागिता धन और कुल के आधार पर निर्धारित नही हेानी चाहिए। इसके प्रमुख तीन आधार हैं– प्रथम वास्तविक लोकतन्त्र सभी नागरिकों की सहभागिता से ही सम्भव हैं, न कि कुछ विशिष्ट व विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों में केन्द्रित सत्ता से, द्वितीय सभी की सहभागिता से नागरिकों के स्वाभिमान, गौरव व गरिमा की रक्षा होती है, तृतीय उत्तरदायी शासन की स्थापना, सरकार की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध के लिए, हिंसक क्रान्ति के विस्फोट को रोकने व शान्तिपूर्ण सत्ता परिवर्तन के लिए आम जन की राजनीतिक सहभागिता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

राजनीतिक न्याय की स्थापना के लिए प्रमुख साधन वयस्क मताधिकार हैं जिसका अभिप्राय निर्वाचन में मत देने का अधिकार एवं स्वयं प्रत्याशी बनने के अधिकार से है, जिससे राजनीतिक दृष्टि से अभिजात्य व विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का परम्परागत आधिपत्य समाप्त हो जाता है। राजनीतिक न्याय के अन्य प्रचलित साधन विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, भाषण सम्मेलन, संगठन निर्माण, प्रेस एवं न्यायपालिका की स्वतन्त्रता, बिना भेदभाव के राजनीतिक एवं सार्वजनिक पदों पर चयनित होने का अधिकार

आदि है, यह सभी अधिकार संविधान द्वारा संरक्षित भी होते हैं।

समाज विज्ञान में सामाजिक न्याय की अवधारणा से परिचय उत्तर ज्ञानोदय काल में हुआ। यह बहुत विस्तृत और जटिल धारणा है। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आधार पर व्यक्ति के साथ भेदभाव का अभाव सामाजिक न्याय का मूल मन्त्र है जो व्यक्ति की गरिमा, प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। यह सामाजिक अधिकारों की माँग से भी जुड़ा है, इसका आशय व्यक्ति के अधिकार व सामाजिक नियन्त्रण के मध्य समुचित तारतम्य से है जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति की आशाओं की पूर्ति की अपेक्षा की जाये ताकि सभी नागरिक अपनी क्षमताओं एवं रूचि के अनुसार विकास के अवसर प्राप्त कर सके। प्लेटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' में भी हमें सामाजिक न्याय के दर्शन होते हैं, जब वह प्रत्येक व्यक्ति से अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने व दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करने की अपेक्षा करता है। गीता में उल्लिखित 'एवधर्मे निधन श्रेय पर धर्मोभयावह' में भी इसी भाव के दर्शन होते हैं। संकुचित परिप्रेक्ष्य में लगता है कि सामाजिक न्याय व्यक्ति के अधिकारों को समाज पर न्योछावर करता है लेकिन व्यापक दृष्टि से देखें तो सामाजिक न्याय, समाज व व्यक्ति के उद्देश्यों के बीच उचित तारतम्य बैठाने के साथ यदि व्यक्ति का समाज के हितों से विरोध होता है तो समाज के हितों को वरीयता देता है, परन्तु एफ0 हायफ (सूंए स्महपेसंजपवदए स्पइमतजलए बैपबंहव 1976) इसे अवसरों की समानता के विचार के विरुद्ध मानते हैं क्योंकि सामाजिक न्याय का प्रयोग पूर्ण रूप से राज्य द्वारा क्रियान्वित किया जाता है तो राज्य के सर्वाधिकार की स्थिति होगी जो लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के विरुद्ध है।

यह विचार प्रमुखतः दलितों, आर्थिक व सामाजिक रूप से पिछड़ों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों, नस्लीय विभेद से ग्रसित व्यक्तियों के अधिकारों के संरक्षण का समर्थन करता है। यह प्रत्येक प्रकार के शोषण के विरुद्ध हैं, विशिष्टतः सामाजिक विषमता के, जिसमें जन्म मनुष्य का भाग्य अकस्मात् निश्चित कर देता है। सामाजिक विषमता के विरोध में पूरे इतिहास में विरोध चलता रहा। फ्रांसीसी क्रान्ति फलस्वरूप बहुत से सामाजिक परिवर्तन हुए। चर्च जैसी संस्था को भी कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्वीकार करना पड़ा। सोवियत क्रान्ति, विश्वयुद्धों से उत्पन्न असन्तोष, साम्यवाद के बढ़ते प्रसार, औपनिवेशिक साम्राज्य से मुक्ति के लिए संघर्ष, संगठित श्रमिक वर्ग के उदय ने विश्व परिदृश्य को परिवर्तित कर दिया, अतः सभी राष्ट्र अपनी नीतियों का निर्माण सामाजिक न्याय की स्थापना की दृष्टि से करने लगे। विकासशील समाजों में विकसित राष्ट्रों की तुलना में सामाजिक न्याय के संघर्ष और इसकी स्थापना अधिक दुष्कर रही हैं। सामाजिक विषमता के विरोध में भारत में भी आन्दोलन होते रहे हैं। बुद्ध, महावीर, रैदास, कबीर, नाथो, सिद्धो और सन्तों से होता हुआ यह उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण काल में स्वामी दयानन्द आदि समाज सुधारकों के प्रयासों से मुखरित होता हुआ, तत्पश्चात् महात्मा फुले, डॉ0 अम्बेडकर, गाँधी, लोहिया के विचारों में भी यह अवधारणा स्पष्ट हुई। भारतीय संविधान में विशेष अवसरों के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान कर भारत में इसे सामाजिक विषमताओं के समाधान के रूप में विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। नौकरियों में आरक्षण, भाषा व संस्कृति का संरक्षण, अल्पसंख्यक व दलितों के अधिकारों की सुरक्षा, वंचित व शोषितों के लिए सरकार द्वारा विशिष्ट नीति निर्धारण, सामाजिक मानदण्डों की प्रस्थापना, सरकारी कानून व आदेशों व नैतिकता के विकास आदि के द्वारा सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए प्रयत्न किये जा सकते हैं। सामाजिक न्याय की स्थापना राज्य का आज प्रमुख उद्देश्य है, चूँकि इसके अभाव की दशा में देश में विद्रोह, क्रान्ति,

युद्ध, पराधीनता, आपसी वैमनस्य की सम्भावना बनी रहती हैं।

आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का ही दूसरा पहलू है। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक, सामाजिक, स्वतन्त्रताएँ कपोल कल्पना मात्र है। पं0 नेहरु ने कहा था कि, ''भूख से मर रहे व्यक्ति के लिए लोकतन्त्र का कोई अर्थ नहीं है।'' अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी इस सम्बन्ध में कहा कि आर्थिक सुरक्षा व आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में स्वतन्त्रता पूर्ण नहीं है। आर्थिक न्याय का आशय पूर्ण आर्थिक समानता से न होकर असमानता के अन्तर को कम करने से है। आर्थिक विषमता से ही सामाजिक विषमता का जन्म होता है। राज्य की दृष्टि से इसका अभिप्राय आर्थिक शक्ति व स्रोतों के न्यायपूर्ण वितरण से है, साथ ही व्यक्ति के गरिमामय जीवनयापन की सुविधाओं और परिस्थिति से इसका सम्बन्ध है।

न्याय का आर्थिक पक्ष मुख्य रूप से समाजवादी आन्दोलनों द्वारा प्रतिपादित किया गया। बार्कर, मेकाइवर, लास्की, कार्ल मार्क्स, लेनिन आदि ने सामाजिक न्याय के आर्थिक पक्ष से सम्बन्धित विचार रखे। मार्क्स, लेनिन के अनुसार सामाजिक, आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए निजी स्वामित्व के अधिकार, उत्पादन के साधनों पर निजी नियन्त्रण को समाप्त करना होगा। सुधारवादियों के अनुसार समाज में पद व धन की असमानताएँ कानून द्वारा समाप्त की जानी चाहिए।

आर्थिक न्याय को प्राप्त करने के लिए लोकहित में निजी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण, निजीकरण की वृद्धि व उसकी भूमिका का संकुचन करना व कमजोर वर्गों के लिए लोककल्याणकारी योजना अपनाकर समान कार्य के लिए समान वेतन, क्षमता के अनुसार कार्य देकर, प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न राज्य द्वारा करना चाहिए ताकि सभी नागरिक गरिमापूर्ण जीवनयापन कर सके।

न्याय की परिवर्तित अवधारणा के विश्लेषण के उपरान्त निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'मत्स्य न्याय' से त्रसित न्याय की खोज की प्रथम अवधारणा 'दुर्बल को न सताना' का विचार वर्तमान में भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि राज्य की स्थापना के समय। न्याय की परिभाषायें परिवर्तित हो सकती हैं, उसकी मीमांसा अथवा व्याख्या, दृष्टिकोण भी परिवर्तित हो सकते हैं लेकिन उद्देश्य नहीं। न्याय के नैतिक और कानूनी दृष्टिकोण का स्थान वर्तमान में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय ने ले लिया है। वर्तमान में न्याय की स्थापना के प्रकार परिवर्तित हुए हैं, दण्ड के प्रावधान परिवर्तित हुए हैं, मानवीय सम्बन्धों की बढ़ती जटिलताओं के कारण वर्तमान में न्याय की अवधारणा की अनेक शाखायें प्रस्फुटित हुई हैं, लेकिन मूल उद्देश्य परिवर्तित नहीं हुआ है, वह स्थायी है 'दुर्बलों की रक्षा'।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अलतेकर प्रो0 अनंत सदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2013
2. अवस्थी डॉ0 अमरेश्वर, अवस्थी डॉ0 रामकुमार, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, रिसर्च पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2002
3. आशीर्वादम ए0डी0, मिश्र कृष्णकान्त, राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द, नई दिल्ली, 2008
4. गाबा ओ0पी0, पाश्चात्य राजनीतिक विचारक, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, 2011

5. जौहरी जे0सी0, प्रिन्सपल्स ऑफ माडर्न पॉलिटिकल साइंस, स्टर्लिंग पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली, 1989
6. पाण्डेय डॉ0 श्यामलाल, भारतीय राजशास्त्र–प्रणेता, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1989
7. वर्मा विश्वनाथ, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1964
8. सेबाइन जी0एच0, हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थ्योरी, जार्ज एण्ड हारपर, लन्दन, 1956